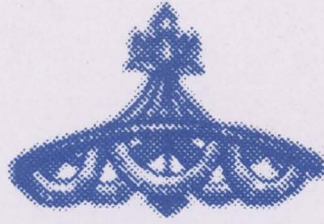


भारतीय दर्शन को जैन दार्शनिकों का अवदान



लेखक

डॉ. सागरमल जैन

प्रकाशक : प्राच्य विद्या पीठ, शाजापुर (म.प्र.)

भारतीय दर्शन को जैन दार्शनिकों का अवदान

लेखक
डॉ. सागरमल जैन

प्रकाशक
प्राच्य विद्यापीठ, शाजापुर (म.प्र.)

मुख्य अभिभाषण

भारतीय दर्शन को जैन दार्शनिकों का अवदान

-डॉ. सागरमल जैन

भारतीय दर्शन को जैन दार्शनिकों का अवदान त्रिविध रूप में रहा है। यह त्रिविध इस दृष्टि से है कि प्रथमतः उन्होंने अन्य दर्शनों की एकांतवादी मान्यताओं की निष्पक्ष समीक्षा की और उनके एकांतवादिता के दोषों को स्पष्ट किया। दूसरे जैन दार्शनिक कभी भी एकान्ततः आलोचक न होकर समालोचक या समीक्षक ही रहे। उन्होंने परस्पर विरोधी दार्शनिक मतवादों के मध्य अपनी अनेकांतवादी दृष्टि से समन्वय का प्रयत्न किया। तीसरे उन्होंने निष्पक्ष होकर दर्शनसंग्राहक ग्रंथों की रचना की।

दार्शनिक एवं धार्मिक परंपराएं

भारतीय दर्शनों में एकांतवादिता का जो दोष आ गया था, जैन दार्शनिकों ने प्रथमतः उसके निराकरण का प्रयत्न किया। जैन दार्शनिकों ने अन्य दर्शनों की जिन मान्यताओं की समीक्षा की वह उनकी एकांतवादिता की समीक्षा थी, न कि उनके सिद्धांतों का समग्रतया निराकरण। उदाहरणार्थ, जैनों ने बौद्धों के जिस 'क्षणिकवाद' की समीक्षा की, वह उनके एकांत परिवर्तनशीलता के सिद्धांत की समीक्षा थी। जैन दर्शन ने वस्तु या सत्ता के स्वरूप में उत्पाद और व्यय को स्वीकार करके वस्तु की परिवर्तनशीलता तो स्वयं ही स्वीकार की थी। इसी प्रकार जब वे सांख्य के कूटस्थनित्य आत्मवाद या वेदांत के 'सत् की अपरिवर्तनशीलता' के सिद्धांत की समीक्षा करते हैं, तो उनका आशय सत्ता की ध्रौव्यता का पूर्ण निराकरण नहीं है बल्कि वे स्वयं भी उत्पाद-व्यय के साथ सत्ता की ध्रौव्यता को स्वीकार करते हैं। इसी प्रकार जैन दार्शनिकों के द्वारा उनकी जो आलोचना प्रतीत होती है - वह आलोचना नहीं, मात्र समीक्षा है। वस्तुतः वे उन सिद्धांतों में रहे हुए एकांतवादिता के दोषों के निराकरण का प्रयास करते हैं। उनकी भूमिका एक आलोचक की भूमिका नहीं है। अपितु शल्य क्रिया करने वाले डाक्टर की सी भूमिका है। जैसे एक चिकित्सक रोगी की बीमारी का निराकरण करता है, न कि उसके अस्तित्व को नकारता है। वह तो उसे स्वस्थ बनाना चाहता है। इसी प्रकार जैन दार्शनिक अन्य दर्शनों के एकांतवादिता के दोष का निराकरण चाहते हैं, न कि उनके सिद्धांतों का समग्रतया खंडन करते हैं। अतः उनकी अन्य दर्शनों की समीक्षा को इसी रूप में देखा जाना चाहिए।

ऐतिहासिक दृष्टि से अन्य दार्शनिक मान्यताओं की समीक्षा जैन दर्शन में आगम-

युग से प्रारंभ होकर सत्रहवीं शती के उपाध्याय यशोविजय के ग्रंथों तक निरंतर चलती रही, पर जैन दार्शनिक अन्य दर्शनों के प्रति अपनी समालोचना में कभी आक्रामक नहीं हुए। इसका सबसे अच्छा उदाहरण हमें मल्लवादी क्षमाश्रमण के द्वादशार नयचक्र (चौथी-पांचवीं शती) में मिलता है, जिसमें उन्होंने अन्य दर्शनों की विधि-विधि, विधि, विधि-निषेध आदि रूपों में समीक्षा की। किंतु, वे किसी दर्शन या दार्शनिक विशेष का नाम लिए बिना, मात्र सिद्धांत की समीक्षा करते हैं। उन्होंने प्रतिपक्षी या समन्वयक जैन दर्शन का नाम लिए बिना मात्र उनकी समीक्षा की है।

जैन परंपरा में अन्य परंपराओं के विचारकों के दर्शनों एवं धर्मोपदेशों के प्रस्तुतीकरण का प्रथम प्रयास हमें ऋषिभाषित ('इसिभासियाइ' - लगभग ई. पू. तीसरी शती) में परिलक्षित होता है। इस ग्रंथ में अन्य धार्मिक और दार्शनिक परंपराओं के प्रवर्तकों - यथा नारद, असितदेवल, याज्ञवल्क्य, सारिपुत्र आदि को 'अर्हत् ऋषि' कहकर संबोधित किया गया है और उनके विचारों को निष्पक्ष रूप में प्रस्तुत किया गया है। निश्चय ही वैचारिक उदारता एवं अन्य परंपराओं के प्रति समादर भाव का यह अति प्राचीनकाल का अन्यतम उदाहरण है। अन्य परंपराओं के प्रति ऐसा समादर भाव वैदिक और बौद्ध परंपरा के प्राचीन साहित्य में हमें कम ही उपलब्ध होते हैं। स्वयं जैन परंपरा में भी यह उदार दृष्टि अधिक काल तक जीवित नहीं रह सकी। परिणामस्वरूप यह महान ग्रंथ, जो कभी अंग साहित्य का एक भाग था, वहां से अलग कर परिपार्श्व में डाल दिया गया। यद्यपि सूत्रकृतांग, भगवती आदि आगम ग्रंथों में तत्कालीन अन्य परंपराओं के विवरण उपलब्ध होते हैं, किंतु उनमें अन्य दर्शनों और परंपराओं के प्रति वह उदारता और शालीनता परिलक्षित नहीं होती, जो ऋषिभाषित में थी। सूत्रकृतांग अन्य दार्शनिक और धार्मिक मान्यताओं का विवरण तो देता है, किंतु उन्हें मिथ्या, अनार्य या असंगत कहकर उनकी आलोचना भी करता है। भगवती में, विशेष रूप से मंखलि-गोशालक के प्रसंग में तो जैन परंपरा सामान्य शिष्टता का भी उल्लघन कर देती है। ऋषिभाषित में जिस मंखलि-गोशालक को 'अर्हत्-ऋषि' के रूप में संबोधित किया गया था, भगवती में उसी का अशोभनीय चित्र प्रस्तुत किया गया है। यहां यह चर्चा केवल इसलिए की जा रही है कि हम परवर्ती जैन दार्शनिक हरिभद्र, यशोविजय आदि की उदार दृष्टि का सम्यक् मूल्यांकन कर सकें और यह जान सकें कि न केवल जैन परंपरा में, अपितु समग्र भारतीय दर्शन में उनका अवदान कितना महान है।

अन्य दर्शनों की एकांतवादिता की समीक्षा की दिशा में किए गए प्रयत्नों में प्रथम नाम सिद्धसेन दिवाकर का आता है। उन्होंने अपने ग्रंथ 'सन्मतितर्क' में यह स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है कि किस दर्शन का कौन-सा सिद्धांत किस 'नय' अर्थात् दृष्टिकोण के

आधार पर सत्य है। उन्होंने जैन दर्शन के 'नयवाद' का अपेक्षा से अन्य दर्शनों के सिद्धांतों की सापेक्षिक सत्यता का दर्शन कराया। उनकी इस दृष्टि का कुछ प्रभाव समंतभद्र की 'आप्तमीमांसा' पर भी देखा जाता है। उन्होंने यह बताया कि वेदांत (औपनिषदिक वेदांत) संग्रहनय से बौद्ध दर्शन का क्षणिकता का सिद्धांत ऋजुसूत्रनय की अपेक्षा से तथा न्याय-वैशेषिक दर्शनों के सिद्धांत व्यवहारनय की अपेक्षा से सत्य प्रतीत होते हैं। यही दृष्टि आगे चलकर समत्वयोगी आचार्य हरिभद्र के ग्रंथों में भी विकसित हुई। जैन दार्शनिकों में सर्वप्रथम सिद्धसेन दिवाकर ने अपने ग्रंथों में अन्य दार्शनिक मान्यताओं का विवरण प्रस्तुत किया है। उन्होंने बत्तीस द्वात्रिंशिकाएं लिखी हैं, उनमें नवीं में वेदवाद, दसवीं में योगविद्या, बारहवीं में न्यायदर्शन, तेरहवीं में सांख्यदर्शन, चौदहवीं में नियतिवाद की चर्चा है, किंतु सिद्धसेन ने यह विवरण समीक्षात्मक दृष्टि से ही प्रस्तुत किया है। वे अनेक प्रसंगों में इन अवधारणाओं के प्रति चुटीले व्यंग्य भी कसते हैं। फिर भी वस्तुतः जैन दार्शनिकों में अन्य दर्शनों के जानने और उनका विवरण प्रस्तुत करने की जो प्रवृत्ति विकसित हुई थी, उसका मूल आधार विरोधी मतों की एकांतवादिता निराकरण करना ही था। सिद्धसेन भी इसके अपवाद नहीं हैं। साथ ही पंडित सुखलालजी संघवी का यह भी कहना है कि सिद्धसेन की कृतियों में अन्य दर्शनों का जो विवरण उपलब्ध है, वह भी पाठ-भ्रष्टता और व्याख्या के अभाव के कारण अधिक प्रामाणिक नहीं है। यद्यपि सिद्धसेन दिवाकर, समंतभद्र, जिनभद्रगणि आदि हरिभद्र के पूर्ववर्ती दार्शनिकों ने अनेकांत दृष्टि के प्रभाव के कारण वैचारिक उदारता का भी परिचय दिया है। फिर भी ये सभी विचारक इतना तो मानते ही हैं कि अन्य दर्शन एकांतिक दृष्टि का आश्रय लेने के कारण मिथ्या-दर्शन हैं, जबकि जैन दर्शन अनेकांत दृष्टि अपना देने के कारण सम्यक्दर्शन है। वस्तुतः वैचारिक समन्वयशीलता और धार्मिक उदारता की जिस उंचाई का स्पर्श हरिभद्र ने अपनी कृतियों में किया है, वैसा उनके पूर्ववर्ती जैन एवं जैनतर दार्शनिकों में हमें परिलक्षित नहीं होता है। यद्यपि हरिभद्र के परवर्ती जैन दार्शनिकों में हेमचंद्र, यशोविजय, आनंदघन आदि - अन्य धर्मों और दर्शनों के प्रति-समभाव और उदारता का परिचय देते हैं। उनकी यह उदारता उन पर हरिभद्र के प्रभाव को ही सूचित करती है। उदाहरण के रूप में हेमचंद्र अपने महादेव-स्रोत (44) में निम्न श्लोक प्रस्तुत करते हैं -

भव बीजांकुस्जजनना रागाद्या क्षयमुपागता यस्य ।

ब्रह्मा वा विष्णुर्वा हरो जिनो वा नमस्तस्मै ॥

यह श्लोक हरिभद्र के लोकतत्त्वनिर्णय में भी कुछ पाठभेद के साथ उपलब्ध होता

है। यथा -

यस्य अनिखिलाश्च दोषान संति, सर्वगुणाश्च विद्यन्ते।

ब्रह्मा वा विष्णुर्वा हरो जिनो वा नमस्तस्मै ॥

वस्तुतः 2500-2600 वर्ष के सुदीर्घ जैन इतिहास में ऐसा कोई भी समन्वयवादी उदारचेता व्यक्तित्व नहीं है, जिसे हरिभद्र के समतुल्य कहा जा सके। यद्यपि हरिभद्र के पूर्ववर्ती और परवर्ती अनेक आचार्यों ने जैन दर्शन की अनेकांत दृष्टि के प्रभाव के परिणामस्वरूप उदारता का परिचय अवश्य दिया है, फिर भी उनकी सृजनधर्मिता उस स्तर की नहीं है, जिस स्तर की हरिभद्र की है। उनकी कृतियों में दो-चार गाथाओं या श्लोकों में उदारता के चाहे संकेत मिल जाएं, किन्तु ऐसे कितने हैं जिन्होंने समन्वयात्मक और उदारदृष्टि के आधार पर षड्दर्शनसमुच्चय, शास्त्रवार्तासमुच्चय और योगदृष्टिसमुच्चय जैसी महान कृतियों का प्रणयन किया हो।

अन्य दार्शनिक और धार्मिक परंपराओं का अध्ययन मुख्यतः दो दृष्टियों से किया जाता है- एक तो उन परंपराओं की आलोचना करने की दृष्टि से और दूसरा उनका यथार्थ परिचय पाने और उनमें निहित सत्य को समझने की दृष्टि से। आलोचना एवं समीक्षा की दृष्टि से लिखे गए ग्रंथों में भी आलोचना के शिष्ट और अशिष्ट- ऐसे दो रूप मिलते हैं। साथ ही जब ग्रंथकर्ता का मुख्य लक्ष्य आलोचना करना होता है, तो वह अन्य परंपराओं के प्रस्तुतीकरण में न्याय भी नहीं करता है और उनकी अवधारणाओं को भ्रांतरूप में प्रस्तुत करता है। उदाहरण के रूप में स्याद्वाद और शून्यवाद के आलोचकों ने कभी भी उन्हें सम्यक् रूप से प्रस्तुत करने का प्रयत्न ही नहीं किया है। यद्यपि हरिभद्र ने भी अपनी कुछ कृतियों में अन्य दर्शनों एवं धर्मों की समीक्षा की है। अपने ग्रंथ धूर्ताख्यान में वे धर्म और दर्शन के क्षेत्र में पनप रहे अंधविश्वासों का सचोट खंडन भी करते हैं। फिर भी इतना निश्चित है कि वे न तो अपने विरोधी के विचारों को भ्रांतरूप में प्रस्तुत करते हैं और न उसके संबंध में अशिष्ट भाषा का प्रयोग ही करते हैं। हरिभद्र ने अपने ग्रंथ शास्त्रवार्तासमुच्चय में कपिल को महानुनि और भगवान बुद्ध को महाचिकित्सक कहा है। हरिभद्र के 'शास्त्रवार्तासमुच्चय' में इस दृष्टिकोण का एक निर्मल विकास परिलक्षित होता है। अपने ग्रंथ 'शास्त्रवार्तासमुच्चय' के प्रारंभ में ही ग्रंथ रचना का उद्देश्य स्पष्ट करते हुए वे लिखते हैं-

यं श्रुत्वा सर्वशास्त्रेषु प्रायस्तत्त्वनिश्चयः ।

जायते द्वेष शमनः स्वर्गसिद्धि सुखावहः ॥

अर्थात् इसका अध्ययन करने से अन्य दर्शनों के प्रति द्वेष-बुद्धि समाप्त होकर तत्त्व का बोध हो जाता है। इस ग्रंथ में वे कपिल को दिव्य-पुरुष एवं महामुनि के रूप में सूचित करते हैं - (कपिलो दिव्यो हि स महामुनिः -शास्त्रवार्तासमुच्चय, 237)। इसी प्रकार वे बुद्ध

को भी अर्हत्, महामुनि, सुवैद्य आदि विशेषणों से अभिहित करते हैं (यतो बुद्धो महामुनिः सुवैद्यत् - वही 465, 466)। यहां हम देखते हैं कि जहां एक ओर अन्य दार्शनिक अपने विरोधी दार्शनिकों का खुलकर परिहास करते हैं - न्याय दर्शन के प्रणेता महर्षि गौतम को गाय का बछड़ा या बैल और महर्षि कणाद को उल्लू कहते हैं - वहीं दूसरी ओर हरिभद्र जैसे जैन दार्शनिक अपने विरोधियों के लिए महामुनि और अर्हत् जैसे सम्मानसूचक विशेषणों का प्रयोग करते हैं। 'शास्त्रवार्तासमुच्चय' में यद्यपि अन्य दार्शनिक अवधारणाओं की स्पष्ट समालोचना है, किंतु संपूर्ण ग्रंथ में ऐसा कोई भी उदाहरण नहीं मिलता जहां हरिभद्र ने शिष्टता की मर्यादा का उल्लंघन किया हो। इसी प्रकार हरिभद्र ने अन्य परंपराओं की समालोचना में भी जिस शिष्टता और आदर-भाव का परिचय दिया, वह हमें जैन और जैनैतर किसी भी परंपरा में उपलब्ध नहीं होता है।

यद्यपि आचार्य हेमचंद्र ने 'अन्ययोगव्यवच्छेदिका' (प्रचलित नाम स्याद्वाद-मंजरी) में अन्य दर्शनों की व्यंग्यात्मक शैली में समालोचना की, किंतु कहीं भी अन्य दर्शनों के प्रति अपशब्द का प्रयोग नहीं किया है।

सम्यक् समालोचना की यह परंपरा आगम-युग से प्रारंभ होकर क्रमशः सिद्धसेन दिवाकर के 'सन्मतितर्क', समंतभद्र की 'आप्तमीमांसा', मल्लवादी क्षमाश्रमण के 'द्वादशारनयचक्र', जिनभद्रगणी की 'विशेषणवती', 'विशेषावश्यकभाष्य', हरिभद्र के 'षड्दर्शनसमुच्चय', 'शास्त्रवार्तासमुच्चय', अनेकांतजयपताका' आदि ग्रंथों में, साथ ही पूज्यपाद देवन्दी की 'सर्वार्थसिद्धि', अकलंक के 'राजवार्तिक', 'अष्टशती', 'न्याय विनिश्चय' आदि, विद्यान्दी के 'श्लोकवार्तिक', 'अष्टसहस्री' आदि, प्रभाचंद्र के 'प्रमेयकमलमार्तंड', रत्नप्रभ की 'रत्नाकर अवतारिका', हेमचंद्र की 'अन्ययोगव्यवच्छेदिका' आदि ग्रंथों तक मिलती है। फिर भी यह धारा आलोचक न होकर समालोचक और समीक्षक ही रही। यद्यपि हमें यह स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए कि परवर्ती मध्ययुग में वाद-विवाद में जो आक्रामक वृत्ति विकसित हुई थी, जैन दार्शनिक भी उससे पूर्णतया अछूते नहीं रहे। फिर भी इतना अवश्य मान लेना होगा कि जैन दार्शनिकों की भूमिका आक्रामक आलोचक की न होकर समालोचक या समीक्षक की रही है। क्योंकि उनके दर्शन की धुरी-रूप अनेकांतवाद की यही मांग थी।

अनेकांत दृष्टि: समनवय के सूत्रों की खोज

जैन दार्शनिकों का दूसरा महत्त्वपूर्ण अवदान उनकी अनेकांत आधारित समन्वयात्मक दृष्टि है। जहां एक ओर जैन दार्शनिकों ने अन्य दर्शनों के एकांतवादिता के दोष का निराकरण करना चाहा, वहीं दूसरी ओर भारतीय दर्शनों के परस्पर विरोधी सिद्धांतों में समन्वय करना चाहा और अन्य दर्शनों में निहित सापेक्षिक सत्यता को देख

कर उसे स्वीकार करने का प्रयत्न भी किया और इस प्रकार विविध दर्शनों में समन्वय के सूत्र भी प्रस्तुत किए। हरिभद्र ने अन्य दर्शनों के अध्ययन के पश्चात् उनमें निहित सार तत्त्व या सत्य को समझने का जो प्रयास किया है, वह भी अत्यंत ही महत्त्वपूर्ण है और उनके उदारचेता व्यक्तित्व को उजागर करता है। यद्यपि हरिभद्र चार्वाक दर्शन की समीक्षा करते हुए उसके भूत स्वभाववाद का खंडन करते हैं और उसके स्थान पर कर्मवाद की स्थापना करते हैं। किंतु, सिद्धांत में कर्म के जो दो रूप- द्रव्यकर्म और भावकर्म - माने गए हैं, उनमें एक ओर भावकर्म के स्थान को स्वीकार नहीं करने के कारण जहां वे चार्वाक-दर्शन की समीक्षा करते हैं, वहीं दूसरी ओर वे द्रव्यकर्म की अवधारणा को स्वीकार करते हुए चार्वाक के भूतस्वभाववाद की सार्थकता को भी स्वीकार करते हैं और कहते हैं कि भौतिक तत्त्वों का प्रभाव भी चैतन्य पर पड़ता है। पंडित सुखलालजी संघवी लिखते हैं कि हरिभद्र ने दोनों पक्षों-अर्थात् बौद्ध एवं मीमांसकों-के अनुसार कर्मवाद के प्रसंग में चित्तवासना की प्रमुखता को तथा चार्वाकों के अनुसार भौतिक तत्त्व की प्रमुखता को एक-एक पक्ष के रूप में परस्पर पूरक एवं सत्य मान कर कहा कि जैन कर्मवाद में चार्वाक और मीमांसक तथा बौद्धों के मंतव्यों का सुमेल हुआ है।

इसी प्रकार 'शास्त्रवार्तासमुच्चय' में हरिभद्र यद्यपि न्याय-वैशेषिक दर्शनों द्वारा मान्य ईश्वरवाद एवं जगत कर्तृत्ववाद की अवधारणाओं की समीक्षा करते हैं, किंतु जहां चार्वाकों, बौद्धों और अन्य जैन आचार्यों ने इन अवधारणाओं का खंडन ही किया है, वहां हरिभद्र इनकी भी सार्थकता को स्वीकार करते हैं। हरिभद्र ने ईश्वरवाद की अवधारणा में भी कुछ महत्त्वपूर्ण तथ्यों को देखने का प्रयास किया है। प्रथम तो यह कि मनुष्य में कष्ट के समय स्वाभाविक रूप से किसी ऐसी शक्ति के प्रति श्रद्धा और प्रपत्ति की भावना होती है, जिसके द्वारा वह अपने में आत्मविश्वास जागृत कर सके। पंडित सुखलाल संघवी लिखते हैं- मानव मन की प्रवृत्ति या शरणागति की यह भावना मूल में असत्य तो नहीं कही जा सकती। उनकी इस अपेक्षा को ठेस न पहुंचे तथा तर्क व बुद्धिवाद के साथ ईश्वरवादी अवधारणा का समन्वय भी हो, इसलिए उन्होंने (हरिभद्र ने) ईश्वर-कर्तृत्ववादी की अवधारणा को अपने ढंग से स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। हरिभद्र कहते हैं कि जो व्यक्ति आध्यात्मिक निर्मलता के फलस्वरूप अपने विकास की उच्चतम भूमिका को प्राप्त हुआ हो, वह असाधारण आत्मा है और वही ईश्वर या सिद्धपुरुष है। उस आदर्श स्वरूप को प्राप्त करने के कारण, कर्ता तथा भक्ति का विषय होने के कारण उपास्य है। इसके साथ ही हरिभद्र यह भी मानते हैं कि प्रत्येक जीव तत्त्वतः अपने शुद्ध रूप में परमात्मा और अपने भविष्य का निर्माता है और इस दृष्टि से यदि विचार करें तो वह ईश्वर भी है और कर्ता भी है। इस प्रकार ईश्वर-कर्तृत्ववाद भी समीचीन ही सिद्ध होता है। हरिभद्र सांख्यों के

प्रकृतिवाद की भी समीक्षा करते हैं, किंतु वे प्रकृति को जैन परंपरा में स्वीकृत कर्म प्रकृति के रूप में देखते हैं। वे लिखते हैं कि सत्य-न्याय की दृष्टि से प्रकृति कर्म-प्रकृति ही है और इस रूप में प्रकृतिवाद भी उचित है, क्योंकि उसके वक्ता कपिल दिव्य-पुरुष और महामुनि हैं।

हरिभद्र ने 'शास्त्रवार्तासमुच्चय' में बौद्धों के क्षणिकवाद, विज्ञानवाद और शून्यवाद की भी समीक्षा की है, किंतु वे इन धारणाओं में निहित सत्य को भी देखने का प्रयत्न करते हैं और कहते हैं कि महामुनि और अर्हत् बुद्ध उद्देश्यहीन होकर किसी सिद्धांत का उपदेश नहीं करते। उन्होंने क्षणिकवाद का उपदेश पदार्थ के प्रति हमारी आसक्ति के निवारण के लिए ही दिया है। क्योंकि जब वस्तु का अनित्य और विनाशशील स्वरूप समझ में आ जाता है, तो उसके प्रति आसक्ति गहरी नहीं होती। इसी प्रकार विज्ञानवाद का उपदेश भी बाह्य पदार्थों के प्रति तृष्णा को समाप्त करने के लिए ही है। यदि सब कुछ चित्त के विकल्प हैं और बाह्य रूप सत्य नहीं हैं, तो उनके प्रति तृष्णा उत्पन्न ही नहीं होगी। इसी प्रकार कुछ साधकों की मनोभूमिका को ध्यान में रख कर संसार की निस्सारता का बोध कराने के लिए शून्यवाद का उपदेश दिया है। इस प्रकार हरिभद्र की दृष्टि में बौद्ध दर्शन के क्षणिकवाद, विज्ञानवाद और शून्यवाद - इन तीनों सिद्धांतों का मूल उद्देश्य यही है कि व्यक्ति की जगत के प्रति के प्रति उत्पन्न होने वाली तृष्णा का उच्छेद हो।

अद्वैतवाद की समीक्षा करते हुए हरिभद्र स्पष्ट रूप से यह बताते हैं कि सामान्य की दृष्टि से तो अद्वैत की अवधारणा भी सत्य है। इसके साथ ही साथ वे यह भी बताते हैं कि विषमता के निवारण के लिए और समभाव की स्थापना के लिए अद्वैत की भूमिका भी आवश्यक है। अद्वैत परायेपन की भावना का निषेध करता है, इस प्रकार द्वेष का उपशमन करता है। अतः वह भी असत्य नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार अद्वैत वेदांत के ज्ञान मार्ग को भी वे समीचीन ही स्वीकार करते हैं।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि अन्य दार्शनिक अवधारणाओं की समीक्षा का उनका प्रयत्न समीक्षा के लिए न होकर उन दार्शनिक परंपराओं की सत्यता के मूल्यांकन के लिए ही है। स्वयं उन्होंने 'शास्त्रवार्तासमुच्चय' के प्राक्कथन में स्पष्ट किया है कि प्रस्तुत ग्रंथ का उद्देश्य अन्य परंपराओं के प्रति द्वेष का उपशमन करना और सत्य का बोध कराना है।

दर्शनग्राहक ग्रंथों की निष्पक्ष रचना

यदि हम भारतीय दर्शन के समग्र इतिहास में सभी प्रमुख दर्शनों के सिद्धांत को एक ही ग्रंथ में पूरी प्रामाणिकता के साथ प्रस्तुत करने के क्षेत्र में हुए प्रयत्नों को देखते हैं, तो हमारी दृष्टि में हरिभद्र ही वे प्रथम व्यक्ति हैं, जिन्होंने सभी प्रमुख भारतीय दर्शनों की

मान्यताओं को निष्पक्ष रूप से एक ही ग्रंथ में प्रस्तुत किया है। हरिभद्र के 'षड्दर्शनसमुच्चय' की कोटि का और उससे प्राचीन दर्शनसंग्राहक कोई अन्य ग्रंथ हमें प्राचीन भारतीय साहित्य में उपलब्ध नहीं होता।

हरिभद्र के पूर्व तक जैन, बौद्ध और वैदिक-तीनों ही परंपराओं के किसी भी आचार्य ने अपने काल के सभी दर्शनों का निष्पक्ष परिचय देने की दृष्टि से किसी भी ग्रंथ की रचना नहीं की थी। उनके ग्रंथों में अपने विरोधी मतों का प्रस्तुतीकरण मात्र उनके खंडन की दृष्टि से ही हुआ है। जैन परंपरा में भी हरिभद्र के पूर्व सिद्धसेन दिवाकर और समंतभद्र ने अन्य दर्शनों के विवरण तो प्रस्तुत किए हैं, किंतु उनकी दृष्टि भी खंडनपरक ही है। विविध दर्शनों का विवरण प्रस्तुत करने की दृष्टि से मल्लवादी का 'नयचक्र' महत्त्वपूर्ण ग्रंथ कहा जा सकता है, किंतु उसका मुख्य उद्देश्य भी प्रत्येक दर्शन की अपूर्णता को सूचित करते हुए अनेकांतवाद की स्थापना करना है। पंडित दलसुखभाई मालवणिया के शब्दों में (नय) चक्र की कल्पना के पीछे आचार्य का आशय यह है कि कोई भी मत अपने आप में पूर्ण नहीं है। जिस प्रकार उस मत की स्थापना दलीलों से हो सकती है उसी प्रकार उसका उत्थान भी विरोधी मतों की दलीलों से हो सकता है। स्थापना और उत्थान का यह चक्र चलता रहता है। अतएव अनेकांतवाद में ये मत यदि अपना उचित स्थान प्राप्त करें- तभी उचित है, अन्यथा नहीं। 'नयचक्र' की मूलदृष्टि भी स्वपक्ष अर्थात् अनेकांतवाद के मंडन और परपक्ष के खंडन की ही है। इस प्रकार जैन परंपरा में भी हरिभद्र के पूर्व तक निष्पक्ष भाव से कोई भी दर्शनसंग्राहक नहीं लिखा गया।

जैनेतर परंपराओं के दर्शनसंग्राहक ग्रंथों में आचार्य शंकर विरचित माने जाने वाले 'सर्वसिद्धांतसंग्रह' का उल्लेख किया जा सकता है। यद्यपि यह कृति माधवाचार्य के 'सर्वदर्शनसंग्रह' की अपेक्षा प्राचीन है। फिर भी इसमें आद्य पूर्वदर्शन का उत्तरदर्शन के द्वारा निराकरण करते हुए अंत में अद्वैत वेदांत की स्थापना की गई है। अतः किसी सीमा तक इसकी शैली को भी 'नयचक्र' की शैली के साथ जोड़ा जा सकता है, किंतु जहां 'नयचक्र' अंतिम मत का भी प्रथम मत से खंडन करवा कर किसी भी एक दर्शन को अंतिम सत्य नहीं मानता है, वहां 'सर्वसिद्धांतसंग्रह' वेदांत को एकमात्र और अंतिम सत्य स्वीकार करता है। अतः यह एक दर्शनसंग्राहक ग्रंथ होकर भी निष्पक्ष दृष्टि का प्रतिपादक नहीं माना जा सकता है। हरिभद्र के 'षड्दर्शनसमुच्चय' की जो विशेषता है- वह इसमें

नहीं हैं ।

जैनेतर परंपराओं में दर्शनसंग्राहक ग्रंथों में दूसरा स्थान माधवाचार्य (ई. 1350 के लगभग) के 'सर्वदर्शनसंग्रह' का आता है । किंतु, 'सर्वदर्शनसंग्रह' की मूलभूत दृष्टि भी यही है कि वेदांत ही एकमात्र सम्यक्दर्शन है । 'सर्वसिद्धांतसंग्रह' और 'सर्वदर्शनसंग्रह' दोनों की हरिभद्र के 'षड्दर्शनसमुच्चय' से इस अर्थ में भिन्नता है कि जहां हरिभद्र बिना किसी खंडन-मंडन के निरपेक्ष भाव से तत्कालीन विविध दर्शनों को प्रस्तुत करते हैं, वहां वैदिक परंपरा के इन दोनों ग्रंथों की मूलभूत शैली खंडनपरक ही है । अतः इन दोनों ग्रंथों में अन्य दार्शनिक मतों के प्रस्तुतीकरण में वह निष्पक्षता और उदारता परिलक्षित नहीं होती है, जो हरिभद्र के षड्दर्शनसमुच्चय में हैं ।

वैदिक परंपरा में दर्शनसंग्राहक ग्रंथों में तीसरा स्थान माधव सरस्वतीकृत 'सर्वदर्शनकौमुदी' का आता है । इस ग्रंथ में दर्शनों को वैदिक और अवैदिक— ऐसे दो भगों में बांटा गया है । अवैदिक दर्शनों में चार्वाक, बौद्ध और जैन — ऐसे तीन भेद तथा वैदिक दर्शन में तर्क, तंत्र और सांख्य—ऐसे तीन भाग किए गए हैं । इस ग्रंथ की शैली भी मुख्यरूप से खंडनात्मक ही है । अतः हरिभद्र के 'षड्दर्शनसमुच्चय' जैसी उदारता और निष्पक्षता इसमें भी परिलक्षित नहीं होती है ।

वैदिक परंपरा के दर्शनसंग्राहक ग्रंथों में चौथा स्थान मधुसूदन सरस्वती के 'प्रस्थानभेद' का आता है । मधुसूदन सरस्वती ने दर्शनों का वर्गीकरण आस्तिक और नास्तिक के रूप में किया है । नास्तिक— अवैदिक दर्शनों में वे छह प्रस्थानों का उल्लेख करते हैं । इसमें बौद्ध दर्शन के चार संप्रदाय तथा चार्वाक और जैनों का समावेश हुआ है । आस्तिक — वैदिक दर्शनों में न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, पूर्व—मीमांसा और उत्तर—मीमांसा का समावेश हुआ है । इन्होंने पाशुपत दर्शन एवं वैष्णव दर्शन का भी उल्लेख किया है । पंडित दलसुखभाई मालवणिया के अनुसार प्रस्थानभेद के लेखक की एक विशेषता अवश्य है, जो उसे पूर्व—उल्लिखित वैदिक परंपरा के अन्य दर्शनसंग्राहक ग्रंथों से अलग करती है । वह यह कि इस ग्रंथ में वैदिक दर्शनों के पारस्परिक विरोध

का समाधान यह कह कर किया गया है कि इन प्रस्थानों के प्रस्तोता सभी मुनि भ्रात तो नहीं हो सकते, क्योंकि वे सर्वज्ञ थे। चूंकि बाह्य विषयों में लगे हुए मनुष्यों का परम पुरुषार्थ में प्रविष्ट होना कठिन होता है, अतएव नास्तिकों का निराकरण करने के लिए इन मुनियों ने दर्शन प्रस्थानों के भेद किए हैं। इस प्रकार प्रस्थानभेद में यत्किंचित उदारता का परिचय प्राप्त होता है। किंतु, यह उदारता केवल वैदिक परंपरा के आस्तिक दर्शनों के संदर्भ में ही है, नास्तिकों का निराकरण करना तो सर्वदर्शन कौमुदीकार को भी इष्ट ही है। इस प्रकार दर्शनसंग्राहक ग्रंथों में हरिभद्र की जो निष्पक्ष और उदार दृष्टि है, वह हमें अन्य परंपराओं में रचित दर्शनसंग्राहक ग्रंथों में नहीं मिलती है। यद्यपि वर्तमान में भारतीय दार्शनिक परंपराओं का विवरण प्रस्तुत करने वाले अनेक ग्रंथ लिखे जा रहे हैं, किंतु उनमें भी लेखक कहीं अपने इष्ट दर्शन और विशेषरूप से वेदांत को ही अंतिम सत्य के रूप में प्रस्तुत करते हुए प्रतीत होते हैं।

हरिभद्र के पश्चात् जैन परंपरा में लिखे गए दर्शनसंग्राहक ग्रंथों में अज्ञातकृत 'सर्वासिद्धांतप्रवेशक' का स्थान आता है—(इतना निश्चित है कि यह ग्रंथ किसी जैन आचार्य द्वारा प्रणीत है) क्योंकि इसके मंगलाचरण में—'सर्वभाव प्रणेतांरं प्रणिपत्य जिनेश्वरं'— ऐसा उल्लेख है। पंडित सुखलाल संघवी के अनुसार प्रस्तुत ग्रंथ की प्रतिपादन शैली हरिभद्र के 'षड्दर्शनसमुच्चय' का ही अनुकरण करती है। अंतर मात्र यह है कि जहां हरिभद्र का ग्रंथ पद्य में है, वहां 'सर्वासिद्धांतप्रवेशक' गद्य में है। साथ ही यह ग्रंथ हरिभद्र के 'षड्दर्शनसमुच्चय' की अपेक्षा कुछ विस्तृत भी है।

जैन परंपरा के दर्शनसंग्राहक ग्रंथों में दूसरा स्थान जीवदेवसूरि के शिष्य आचार्य जिनदत्तसूरि (विक्रम संवत् 1265) के 'विवेकविलास' का आता है। इस ग्रंथ के अष्टम् उल्लास में षड्दर्शनविचार नामक प्रकरण है। जिसमें जैन, मीमांसक, बौद्ध, सांख्य, शैव और नास्तिक— इन छह दर्शनों का संक्षेप में वर्णन किया गया है। पंडित दलसुखभाई मालवणिया के अनुसार इस ग्रंथ की एक विशेषता तो यह है कि इसमें न्याय—वैशेषिकों का समावेश शैवदर्शन में किया गया है। मेरी दृष्टि में इसका कारण लेखक के द्वारा हरिभद्र के 'षड्दर्शनसमुच्चय' का अनुसरण करना ही है,

क्योंकि उसमें भी न्यायदर्शन के देवता के रूप में शिव का ही उल्लेख किया गया है—

अक्षपादमते देवः सृष्टिसंहारकृच्छिव

यह ग्रंथ भी हरिभद्र के 'षड्दर्शनसमुच्चय' के समान केवल परिचयात्मक और निष्पक्ष प्रस्तुत करता है और आकार में मात्र छियासठ श्लोक प्रमाण है।

जैन परंपरा में दर्शनसंग्राहक ग्रंथों में तीसरा क्रम राजशेखर (विक्रम संवत् 1405) के 'षड्दर्शनसमुच्चय' का आता है। इस ग्रंथ में जैन, सांख्य, जैमिनीय, योग, वैशेषिक और सौगत (बौद्ध)— इन छह दर्शनों का उल्लेख किया गया है। हरिभद्र के समान ही इस ग्रंथ में भी इन सभी को आस्तिक कहा गया है और अंत में नास्तिक के रूप में चार्वाक दर्शन का परिचय दिया गया है। हरिभद्र के 'षड्दर्शनसमुच्चय' और राजशेखर के 'षड्दर्शनसमुच्चय' में एक मुख्य अंतर इस बात को लेकर है कि दर्शनों के प्रस्तुतीकरण में जहां हरिभद्र जैन दर्शन को चौथा स्थान देते हैं, वहां राजशेखर जैन दर्शन को प्रथम स्थान देते हैं। पंडित सुखलाल संघवी के अनुसार संभवतः इसका कारण यह हो सकता है कि राजशेखर अपने समकालीन दार्शनिकों के अभिनिवेशयुक्त प्रभाव से अपने को दूर नहीं रख सके।

पंडित दलसुखभाई मालवणिया की सूचना के अनुसार राजशेखर के काल का ही एक अन्य दर्शनसंग्राहक ग्रंथ आचार्य मेरुतुंगकृत 'षड्दर्शननिर्णय' है। इस ग्रंथ में मेरुतुंग ने बौद्ध, मीमांसा, सांख्य, नैयायिक, वैशेषिक आदि छह दर्शनों की मीमांसा की है, किंतु इस कृति में भी हरिभद्र जैसी उदारता नहीं है। यह मुख्यतया जैनमत की स्थापना और अन्य मतों के खंडन के लिए लिखा गया है। एकमात्र इसकी विशेषता यह है कि इसमें महाभारत, स्मृति, पुराण आदि के आधार पर जैनमत का समर्थन किया गया है।

पंडित दलसुखभाई मालवणिया ने 'षड्दर्शनसमुच्चय' की प्रस्तावना में इस बात का भी उल्लेख किया है कि सोमतिलकसूरिकृत 'षड्दर्शनसमुच्चय' की वृत्ति के अंत में दर्शनसंग्राहक अज्ञातकृतक एक कृति का उल्लेख है। इसमें भी जैन, नैयायिक, बौद्ध, वैशेषिक, जैमिनीय, सांख्य और चार्वाक—ऐसे

सात दर्शनों का संक्षेप में परिचय दिया गया है, किंतु अंत में अन्य दर्शनों को दुर्नय की कोटि में रखकर जैन दर्शन को उच्च श्रेणी में रखा गया है। इस प्रकार इसका लेखक भी अपने को सांप्रदायिक अभिनिवेश से दूर नहीं रख सका।

इस प्रकार हम देखते हैं कि दर्शनसंग्राहक-ग्रंथों की रचना में भारतीय इतिहास में हरिभद्र ही एकमात्र ऐसे व्यक्ति हैं, जिन्होंने निष्पक्ष भाव से और पूरी प्रामाणिकता के साथ अपने ग्रंथों में अन्य दर्शनों का विवरण दिया है। इस क्षेत्र में वे अभी तक अद्वितीय हैं। अतः हमें मानना होगा कि जैन दार्शनिकों ने भारतीय दर्शन के क्षेत्र में एक महत्वपूर्ण अवदान प्रस्तुत किया है।

यदि जैन दार्शनिकों के भारतीय दर्शन के क्षेत्र में दिये गये अवदान को सम्यक् प्रकार से समझना है तो हमें उसे निम्न चार कालखण्डों में विभाजित करके देखना होगा— 1. आगम युग 2. दर्शन युग 3. नव्य न्याय युग और 4. आधुनिक युग

आगम युग

जहाँ तक आगमयुग का प्रश्न है, इस कालखण्ड में जैन दर्शन अपना स्वरूप ग्रहण कर रहा था। इसे हम सूत्र युग भी कह सकते हैं, क्योंकि इस कालखण्ड में विभिन्न दर्शनों के सूत्र ग्रन्थों की रचना हुई जैसे— सांख्य सूत्र, योग सूत्र, न्याय सूत्र, वैशेषिक सूत्र, मीमांसा सूत्र और ब्रह्म सूत्र। ये सभी सूत्र ग्रन्थ वैदिक धारा के विभिन्न भारतीय दर्शन प्रस्थानों से सम्बन्धित थे। यद्यपि सांख्य सूत्र और योग सूत्र पर श्रमणधारा का प्रभाव स्पष्टतः देखा जाता है।

श्रमणधारा के तीन दर्शनों— जैन, बौद्ध और चार्वाक— में से बौद्ध और चार्वाक दर्शन के कोई स्वतन्त्र और सामान्य सूत्र ग्रन्थ नहीं मिलते हैं। बौद्धों के सुत्त पिटक और अभिधम्म उनकी दार्शनिक अवधारणाओं को प्रस्तुत करते हैं, फिर भी वे वस्तुतः कोई सूत्र ग्रन्थ नहीं हैं। जहाँ तक जैनों का प्रश्न है, उमास्वाति ने इस कालखण्ड में तत्त्वार्थसूत्र की रचना की और समग्र जैनदर्शन को अति संक्षेप में प्रस्तुत भी किया। यद्यपि इस कालखण्ड में जैन प्रमाण मीमांसा, स्याद्वाद—सप्तभंगी, गुणस्थान सिद्धान्त आदि का

समग्ररूपेण विकास नहीं हो पाया था। इस कालखण्ड में और विशेष रूप से अर्धमागधी आगमों में प्रमाण के कुछ निर्देश भी मिलते हैं, किन्तु वे न्याय दर्शन की प्रमाण चर्चा का मात्र पूर्व रूप ही कहे जा सकते हैं। उस युग में प्रमाण शब्द का प्रयोग परिमाण या मात्रा के अर्थ में ही देखा जाता है, यद्यपि चार प्रमाणों का भी उल्लेख है, किन्तु वे वही हैं, जो नैयायिकों मान्य है। मैंने अपने एक शोध आलेख में इसकी विस्तृत चर्चा की है। इस कालखण्ड में सांख्य और योगदर्शन का भी प्रभाव देखा जाता है। सांख्य दर्शन का प्रभाव मुख्यतः कुन्दकुन्द के समयसार पर और योगसूत्र का प्रभाव तत्त्वार्थसूत्र की रचना में देखा जाता है। यद्यपि इस युग के जैन चिन्तन ने उन्हें भी प्रभावित किया था। तुलनात्मक दृष्टि से यह अध्ययन आज भी उपेक्षित है। जहाँ तक तत्त्व मीमांसा का प्रश्न है— जैनों की कुछ मौलिक अवधारणाएँ हैं जैसे— पंचास्तिकाय, षट्जीवनिकाय, नवतत्त्व, नयवाद आदि जो इस कालखण्ड में उपस्थित पाई जाती हैं। फिर भी दार्शनिक चिन्तन का पूर्ण विकास तो दर्शन युग में हुआ। इस युग में जैन तत्त्व मीमांसा में जो अर्थ विकास और परिवर्तन हुए उनकी चर्चा मैंने “ जैन तत्त्व मीमांसा का ऐतिहासिक विकास क्रम” नामक स्वतंत्र आलेख में किया है। इस कालखण्ड की तीन विशेषताएँ हैं— 1. पंचास्तिकाय में धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय के अर्थ में परिवर्तन किया गया, उन्हें क्रमशः गति और स्थिति का नियामक माना गया। दूसरे पंचास्तिकायों में काल को अनस्तिकाय के रूप में मानकर षट् द्रव्यों की अवधारणा का विकास हुआ।

दर्शन युग

यद्यपि जैन तत्त्वज्ञान से संबंधित विषयों का प्रतिपादन आगमों में कीर्ण रूप में मिलता है, किन्तु सभी आगम प्राकृत में ही निबद्ध हैं। जैन तत्त्वज्ञान से संबंधित प्रथम सूत्र ग्रन्थ की रचना उमास्वाति ने संस्कृत भाषा की और यहीं से दर्शनयुग का प्रारम्भ होता है। उमास्वाति के काल तक विविध भारतीय दार्शनिक निकायों के सूत्र ग्रन्थ अस्तित्व में आ चुके थे, जैसे वैशेषिक सूत्र, सांख्यसूत्र, योगसूत्र, न्यायसूत्र, आदि। अतः उमास्वाति के लिए यह आवश्यक था कि वे जैन धर्म—दर्शन से संबंधित विषयों को व्यवस्थित रूप से समाहित करते हुए सूत्र—शैली में संस्कृत भाषा में किसी

ग्रन्थ की रचना करे। उमास्वाति के पश्चात् सिद्धसेन, समन्तभद्र आदि ने भी जैन दर्शन पर ग्रन्थ लिखे। सिद्धसेन दिवाकर ने भारतीय दार्शनिक अवधारणाओं की समीक्षा को लेकर कुछ द्वात्रिंशिकाओं की रचना संस्कृत भाषा में की थी जिनमें न्यामवतार प्रमुख है। यद्यपि अनेकांतवाद की स्थापना हेतु उन्होंने प्राकृत में सन्मतितर्कप्रकरण की रचना की। सिद्धसेन ने जैन न्याय को व्यवस्थित रूप प्रदान किया। इसी प्रकार दिगम्बर आचार्य समन्तभद्र ने भी आप्तमीमांसा, युक्त्यानुशासन एवं स्वयम्भूस्तोत्र नामक दार्शनिक ग्रन्थों की रचना संस्कृत भाषा में की। आप्तमीमांसा में अन्य भारतीय दर्शनों की समीक्षा भी की गई। इसी प्रकार ईसा की चौथी-पॉचवी शताब्दी में जैन दार्शनिक साहित्य लिखा जाने लगा। उमास्वाति ने स्वयं ही तत्त्वार्थसूत्र के साथ-साथ उसका स्वोपज्ञ भाष्य भी लिखा था, किन्तु उन्होंने अन्य दर्शनों की समीक्षा नहीं की, मात्र जैन दर्शन का तर्क पुरस्सर विधान किया। लगभग 5 वीं शताब्दी के अन्त और 6वीं शताब्दी के प्रारम्भ में दिगम्बराचार्य पूज्यपाद देववन्दि ने तत्त्वार्थसूत्र पर 'सर्वार्थसिद्धि' नामक टीका लिखी। इसके अतिरिक्त उन्होंने जैन-साधना के सन्दर्भ में 'समाधि तंत्र' और 'इष्टोपदेश' नामक ग्रन्थ भी लिखे। इसी काल खण्ड में श्वेताम्बर परम्परा में मल्लवादी ने द्वादशारनयचक्र की रचना की जिसमें प्रमुख रूप से सभी भारतीय दार्शनिक परम्पराएँ पूर्व पक्ष के रूप में प्रस्तुत की गईं और उन्हीं में से उनकी विरोधी धारा को उत्तरपक्ष के रूप में प्रस्तुत कर उनका समीक्षा भी की गई। इसके पश्चात् 6वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में जिनभद्रगणिकक्षमाश्रमण ने विशेषावश्यकभाष्य प्राकृत में लिखा, किन्तु उसकी स्वोपा टीका संस्कृत में लिखी थी। उन्होंने अन्य दर्शनों की समीक्षा के स्थान पर जैन दार्शनिक मान्यताओं के प्रति सम्भावित शंकाओं के निराकरण पर प्रयत्न किया। उनके पश्चात् 7वीं शती के प्रारम्भ में कोट्टाचार्य ने विशेषावश्यकभाष्य पर संस्कृत भाषा में टीका लिखी थी जो प्राचीन भारतीय दार्शनिक मान्यताओं का गम्भीर विवेचन प्रस्तुत करती है, साथ ही उनकी समीक्षा भी करती है। लगभग 7वीं शताब्दी में ही सिद्धसेनगणिके श्वेताम्बर परम्परा में तत्त्वार्थसूत्र की टीका लिखी। इसी समय द्वादशारनयचक्र की संस्कृत भाषा में सिंहशूरगणिके ने टीका भी लिखी थी। 8वीं शताब्दी में

प्रसिद्ध जैनाचार्य हरिभद्रसूरि हुए, जिन्होंने प्राकृत और संस्कृत दोनों ही भाषाओं में अपनी कलम चलाई। हरिभद्रसूरि ने जहाँ एक ओर अनेक जैनागमों पर संस्कृत में टीकाएँ लिखी, वहीं उन्होंने अनेक दार्शनिक ग्रन्थों का भी प्रणयन किया। उनके द्वारा रचित निम्न दार्शनिक ग्रन्थ अधिक प्रसिद्ध हैं— षट्दर्शनसमुच्चय, शास्त्रवार्तासमुच्चय, अनेकान्तजयपताका, अनेकान्तवादप्रवेश, अनेकान्तप्रघट्ट। साथ ही उन्होंने बौद्ध दार्शनिक दिङ्नाग के न्यायप्रवेश की टीका भी लिखी। इसके अतिरिक्त उन्होंने 'योगदृष्टिसमुच्चय', योगशतक, योगविशिका आदि ग्रन्थ भी लिखे। हरिभद्र पहले व्यक्ति है, जिन्होंने सर्वप्रथम षट्दर्शनसमुच्चय नामक ग्रन्थ पूर्ण निष्पक्ष भाव से लिखा। जबकि शास्त्रवार्तासमुच्चय में उन्होंने समन्वयात्मक एवं आदरपूर्ण दृष्टि से सभी भारतीय दर्शन को प्रस्तुत किया। हरिभद्र के समकाल में या उनके कुछ पश्चात् दिगम्बर परम्परा में आचार्य अकलंक और विद्यानन्दसूरि हुए, जिन्होंने अनेक दार्शनिक ग्रन्थों की रचना की थी। जहाँ अकलंक ने तत्त्वार्थसूत्र पर 'राजवर्तिक' नामक टीका के साथ साथ न्याय-विनिश्चय, सिद्धि-विनिश्चय, प्रमाण-संग्रह, लघीयस्त्री-अष्टशती एवं प्रमाण संग्रह आदि दार्शनिक ग्रन्थों की रचना की। वही विद्यानन्द ने भी तत्त्वार्थसूत्र पर श्लोकवार्तिकटीका के साथ साथ आप्त-परीक्षा, प्रमाण-परीक्षा, सत्यशासन-परीक्षा, अष्टसहस्त्री आदि गम्भीर दार्शनिक ग्रन्थों की रचना की। इनमें उन्होंने अन्य भारतीयदर्शनों की एकान्तवादिता की समीक्षा भी की। 10वीं शताब्दी के प्रारम्भ में सिद्धसेन के न्यायावतार पर श्वेताम्बराचार्य सिद्धऋषि ने विस्तृत टीका की रचना की। इसीकाल में प्रभाचन्द्र, कुमुदचन्द्र एवं वादिराजसूरि नामक दिगम्बर आचार्यों ने क्रमशः प्रमेयकमलमार्तण्ड न्यायकुमुदचन्द्र, न्याय-विनिश्चय टीका आदि महत्वपूर्ण दार्शनिक ग्रन्थों की रचना की। इसके पश्चात् 11वीं शताब्दी में देवसेन ने लघुनयचक्र, बृहदनयचक्र, आलापपद्धति, माणिक्यनन्दी के परीक्षामुख तथा अनन्तवीर्य ने सिद्धि-विनिश्चय टीका आदि दार्शनिक कृतियों का सृजन किया। इसी कालखण्ड में श्वेताम्बर परम्परा के अभयदेव सूरि ने सिद्धसेन के सन्मति-तर्क पर वादमहार्णव नामक टीका ग्रन्थ की रचना की। इसी क्रम में दिगम्बर आचार्य अनन्तकीर्ति ने लघुसर्वज्ञसिद्धि, बृहत्सर्वज्ञसिद्धि,

भारतीय दर्शन को जैन दार्शनिकों का अवदान/17

प्रमाणनिर्णय आदि दार्शनिक ग्रन्थों की रचना की थी। इन सभी कृतियों, हमें एकान्तवाद की समीक्षा के साथ अनेकांत दृष्टि के प्रस्तुतीकरण का प्रयास भी हुआ है। इसी कालखण्ड में श्वेताम्बर परम्परा में आचार्य वादिदेवसूरि हुए उन्होंने प्रमाणनयतत्वालोक तथा उसी पर स्वोपज्ञ टीका के रूप में 'स्यादवादरत्नाकर' जैसे जैन न्याय के आकर ग्रन्थों का निर्माण किया और उनके ही शिष्य रत्नप्रभसूरि ने रत्नाकरावतारिका की रचना की थी, इन सभी में अन्य भारतीय दर्शनों की अनेक दार्शनिक मान्यताओं की समीक्षा भी है। 12वीं शताब्दी में हुए श्वेताम्बर आचार्य हेमचन्द्र ने मुख्य रूप से जैनन्याय पर प्रमाणमीमांसा (अपूर्ण) और दार्शनिक समीक्षा के रूप में अन्ययोगव्यवच्छेदिका—इन दो महत्वपूर्ण दार्शनिक ग्रन्थों की रचना की। यद्यपि संस्कृत व्याकरण एवं साहित्य के क्षेत्र में उनका अवदान प्रचुर है, तथापि हमने यहाँ उनके दार्शनिक ग्रन्थों की ही चर्चा की है। यद्यपि 13वीं, 14वीं, 15वीं और 16वीं शताब्दी में भी जैन आचार्यों ने संस्कृत भाषा में कुछ दार्शनिक ग्रन्थों की रचना की थी, किन्तु वे ग्रन्थ अधिक महत्वपूर्ण न होने से हम यहाँ उनकी चर्चा नहीं कर रहे हैं, यद्यपि इस काल खण्ड में कुछ दार्शनिक ग्रन्थों की टीकाएँ भी लिखी गईं जैसे हेमचन्द्र की अन्ययोगव्यवच्छेदिका की मल्लिषण की 'स्यादवादमन्जरी' नामक टीका, तथा हरिभद्र के षडदर्शनसमुच्चय की गुणरत्न टीका आदि। ये सभी टीकाएँ समालोचनात्मक दृष्टि से युक्त हैं।

नव्यन्याय युग

यद्यपि नव्यन्याय की दार्शनिक परम्परा का प्रारम्भ चौदहवीं शती से भारतीय दार्शनिक गंगेश से होता है, किन्तु जैन दार्शनिकों ने सत्रहवीं शती तक इस शैली को नहीं अपनाया। १७वीं शताब्दी में श्वेताम्बर परम्परा में उपाध्याय यशोविजय नामक एक प्रसिद्ध जैन दार्शनिक हुए, जिनने अध्यात्मसार, ज्ञानसार, भाषारहस्य आदि दर्शन के क्षेत्र में अनेक महत्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे हैं। जैन परम्परा में इन्होंने सर्वप्रथम नव्यन्याय शैली को अपनाया, अध्यात्म के क्षेत्र में अध्यात्ममतसमीक्षा, अध्यात्मसार, ज्ञानसार आदि तथा दर्शन के क्षेत्र में जैन तर्कभाषा, नयोपदेश, नयसहस्य, न्यायालोक, स्यादवादकल्पलता आदि इनके दर्शन के अनेक ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। जैन

तर्कभाषा इन्होंने नव्य न्याय की शैली में ही लिखी है। इनके पश्चात् दिगम्बर परम्परा में विमलदास ने सप्तभंगीतरंगिणी इस शैली में लिखी है। इन दो ग्रन्थों के अतिरिक्त अन्य कोई जैन ग्रन्थ नव्य न्याय की शैली में लिखा गया हो यह मेरी जानकारी में नहीं है।

आधुनिकयुग

आधुनिक युग का काल 20 वीं शती माना जाता है। इस कालखण्ड श्वेताम्बर दिगम्बर दोनों परम्पराओं में अनेक जैन चिन्तक हुए हैं, जिन्होंने उदार वैज्ञानिकदृष्टि से एवं ऐतिहासिक विकासक्रम को ध्यान में रखकर जैनदर्शन सम्बन्धी लेखन किया है। इनमें आदिनाथ नेमीनाथ उपाध्ये, पं. नाथुरामजी प्रेमी, प्रो. हीरालालजी, पं. सुखलालजी, पं. बेचरदासजी दोषी, पं. दलसुख मालवणिया, प्रो. नथमल टाटिया, प्रो. मधुसूदन ढाकी आदि प्रमुख हैं। यद्यपि इसी कालखण्डक में कुछ परम्परागत शैली का अनुसरण करने वाले विद्वान भी हुए हैं, जिन्होंने अपने लेखन एवं मूल ग्रन्थों के अनुवाद आदि के माध्यम से भारतीय दर्शन को समृद्ध किया है। जैसे— पं. महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्य, पं. हीरालालजी, पं. कैलाशचंदजी, पं. फूलचंदजी, पं. दरबारीलालजी कोठिया आदि प्रमुख हैं। जहाँ तक इन वर्गों का प्रश्न है— प्रथम वर्ग ने तुलनात्मक अध्ययन और निष्पक्ष समीक्षात्मक दृष्टि से जैन एवं जैनेतर दार्शनिक चिन्तन को तुलनात्मक दृष्टि से प्रस्तुत कर भारतीय दर्शन की सेवा की है। वही दूसरे वर्ग ने मौलिक ग्रन्थों के अनुवाद से साथ-साथ अपनी भूमिकाओं एवं आलेखों द्वारा जैन परम्परा का पोषण करते हुए भारतीय चिन्तन को समृद्ध किया।



सिद्धसेनदिवाकर का भारतीयदर्शन को अवदान

— प्रो. सागरमल जैन

सिद्धसेन दिवाकर जैन दर्शन के शीर्षस्थ विद्वान् रहे हैं। जैनदर्शन के क्षेत्र में अनेकान्तवाद की तार्किक स्थापना करने वालों वे प्रथम पुरुष हैं। जैनदर्शन के आद्य तार्किक होने के साथ-साथ वे भारतीय दर्शनों के आद्य संग्राहक और समीक्षक भी हैं। उन्होंने अपनी कृतियों में विभिन्न भारतीय दर्शनों की तार्किक समीक्षा भी प्रस्तुत की है। ऐसे महान् दार्शनिक के जीवनवृत्त और कृतित्व के सम्बन्ध में तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दी में रचित प्रबन्धों के अतिरिक्त अन्यत्र मात्र सांकेतिक सूचनाएँ ही मिलती हैं। यद्यपि उनके अस्तित्व के सन्दर्भ में हमें अनेक प्राचीन ग्रन्थों में संकेत उपलब्ध होते हैं। लगभग चतुर्थ शताब्दी से ही जैन ग्रन्थों में उनके और उनकी कृतियों के सन्दर्भ हमें उपलब्ध होने लगते हैं। फिर भी उनके जीवनवृत्त और कृतित्व के सम्बन्ध में विस्तृत जानकारी का अभाव ही है। यही कारण है कि उनके जीवनवृत्त, सत्ताकाल, परम्परा तथा कृतियों को लेकर अनेक आज भी प्रचलित हैं। यद्यपि पूर्व में पं. सुखलालजी, प्रो. ए.एन. उपाध्ये, पं.जुगलकिशोर जी मुख्तार आदि विद्वानों ने उनके व्यक्तित्व और कृतित्व के सन्दर्भ में प्रकाश डालने का प्रयत्न किया है, किन्तु इन विद्वानों की परस्पर विरोधी स्थापनाओं के कारण विवाद अधिक गहराता ही गया।

जहाँ तक सिद्धसेन के भारतीयदर्शन को अवदान का प्रश्न है ? उन्होंने अन्य दर्शनों के एकान्तवाद की समीक्षा करके अनेकान्तवाद की स्थापना की है। अनेकान्तवाद के तार्किक प्रस्तुतीकरण के वे आद्य जैनाचार्य माने जाते हैं। इस सम्बन्ध में उनकी दार्शनिककृति सन्मतितर्कप्रकरण

अतिमहत्त्वपूर्ण है। दूसरे उन्होंने ज्ञान और दर्शन के उपयोग (अनुभूति) में तादात्म्य स्थापित करके जैनदर्शन के क्षेत्र में केवली के उपयोग के सम्बन्ध में श्वेताम्बरों के क्रमवाद और दिगम्बरों के युगपदवाद में समन्वय कर उनके तादात्म्य या अभिन्नता को बताया है। तीसरे जैनदर्शन के नयवादको, यह कहकर कि जितने कथन के प्रारूप हो सकते हैं उतने नय हो सकते हैं, व्यापक आधार दिया है। चौथे उन्होंने विभिन्न दर्शनों को विभिन्नियों के आधार पर समझने की दृष्टि देकर विभिन्न दर्शनों में रहे हुए विवाद का समाहार या समन्वय करने का प्रयत्न किया है।



आचार्य हरिभद्र का भारतीय दर्शन को अवदान

- प्रो. सागरमल जैन

आचार्य हरिभद्र जैनधर्म के प्रखर प्रतिभासम्पन्न एवं बहुश्रुत आचार्य माने जाते हैं। उन्होंने अपनी लेखनी के द्वारा विपुल एवं बहुआयामी साहित्य का सृजन किया है। उन्होंने दर्शन, धर्म, योग, आचार, उपदेश, व्यंग्य और चरित-काव्य आदि विविध विधाओं के ग्रंथों की रचना की है। मौलिक साहित्य के साथ-साथ उनका टीका साहित्य भी विपुल है। जैन धर्म में योग संबंधी साहित्य के तो वे आदि प्रणेता हैं। इसी प्रकार आगमिक ग्रंथों की संस्कृत भाषा में टीका करने वाले जैन-परंपरा में वे प्रथम टीकाकार भी हैं। उनके पूर्व तक आगमों पर जो निर्युक्ति, और भाष्य लिखे गये थे, वे मूलतः प्राकृत लिखे गये चूर्णियाँ भी संस्कृत-प्राकृत मिश्रित भाषा में लिखी गयीं। विशुद्ध संस्कृत भाषा में आगमिक ग्रंथों की टीका लेखन का सूत्रपात में आचार्य हरिभद्र ने ही किया। भाषा की दृष्टि से उनके ग्रंथ संस्कृत और प्राकृत दानों ही भाषाओं में मिलते हैं। अनुश्रुति तो यह है कि उन्होंने 1444 ग्रंथों की रचना की थी, किंतु वर्तमान में हमें उनके नाम पर चढ़े हुए लगभग 75 ग्रंथ ही उपलब्ध होते हैं। यद्यपि विद्वानों की यह मान्यता है कि इनमें से कुछ ग्रंथ वस्तुतः याकिनीसूनु हरिभद्र की कृति न होकर किन्हीं दूसरे हरिभद्र नामक आचार्यों की कृतियाँ हैं। पंडित सुखलालजी ने इनमें से लगभग 45 ग्रंथों को तो निर्विवाद रूप से उनकी कृति स्वीकार किया है।

जहाँ तक हरिभद्र की दार्शनिक कृतियों का प्रश्न है— उनमें षट्दर्शन समुच्चय (दर्शन संग्राहक ग्रंथ) शास्त्रवार्तासमुच्चय, अनेकांतजय पताका, अनेकांतप्रवेश, अनेकांतप्रघट्ट, लोकतत्त्व निर्णय आदि प्रमुख हैं, वहीं उन्होंने योग साधना को लेकर भी चार ग्रंथों की रचना की है— 1. योगविंशिका, 2. योगशतक 3. योगबिंदु और, 4. योगदृष्टिसमुच्चय। इस प्रकार दर्शन और योगसाधना दोनों ही क्षेत्रों में उनका अवदान रहा हुआ है,

22/भारतीय दर्शन को जैन दार्शनिकों का अवदान

जिसे निम्न बिंदुओं के आधार पर सम्यक् रूप से समझा जा सकता है—
धर्म और दर्शन क्षेत्र में हरिभद्र का अवदान क्या है ? यह समझने के लिये इस चर्चा को हम निम्न बिंदुओं में विभाजित कर रहे हैं—

1. दार्शनिक एवं धार्मिक परम्पराओं का निष्पक्ष प्रस्तुतीकरण।
2. अन्य दर्शनों की समीक्षा में शिष्ट भाषा का प्रयोग तथा अन्य धर्मों एवं दर्शनों के प्रवर्तकों के प्रति बहुमानवृत्ति।
3. शुष्क दार्शनिक समालोचनाओं के स्थान पर उन अवधारणाओं के सार—तत्त्व और मूल उद्देश्यों को समझने का प्रयत्न।
4. अन्य दार्शनिक मान्यताओं में निहित सत्यों को एवं इनकी मूल्यवत्ता को स्वीकार करते हुए जैन दृष्टि के साथ उनके समन्वय का प्रयत्न।
5. अन्य दार्शनिक परम्पराओं के ग्रंथों का निष्पक्ष अध्ययन करके उन पर व्याख्या और टीका का प्रणयन करना।
6. उदार और समन्वयवादी दृष्टि रखते हुए पौराणिक अन्ध—विश्वासों का निर्भीक रूप से खण्डन करना।
7. दर्शन और धर्म के क्षेत्र में आस्था या श्रद्धा की अपेक्षा तर्क एवं युक्ति पर अधिक बल, किन्तु शर्त यह कि तर्क और युक्ति का प्रयोग अपने मत की पुष्टि के लिए नहीं, अपितु सत्य की खोज के लिए हो।
8. धर्म साधना को कर्मकाण्ड के स्थान पर चरित्र की निर्मलता के साथ जोड़ने का प्रयत्न।
9. मुक्ति के सम्बंध में एक उदार और व्यापक दृष्टिकोण।
10. उपास्य के नाम—भेद को गौण मानकर उसके गुणों पर बल।



आचार्य वादीदेवसूरि और उनके शिष्य रत्नप्रभसूरि का भारतीय दार्शनिक को अवदान

प्रो. धर्मचन्द्र जैन

आचार्य एवं अध्यक्ष, संस्कृत-विभाग,
जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय, जोधपुर

वादविद्या में निपुण देवसूरि (1086-1169 ई.) श्वेताम्बर जैन परम्परा के महान दार्शनिक आचार्य थे। ये गुजरात में राजा सिद्धराज जयसिंह के काल में हुए तथा आचार्य हेमचन्द्रसूरि से जन्म में 2 वर्ष बड़े थे। इनका बचपन का नाम पूर्णचन्द्र था तथा मुनिचन्द्रसूरि का शिष्यत्व अंगीकार करने पर इनका नाम रामचन्द्र रखा गया और 31 वर्ष की वय में आचार्य बनने पर ये देवसूरि कहलाए। वादविद्या में पारंगत एवं विजयी होने से इनके नाम के पूर्व वादी विशेषण जोड़ा गया। प्रभावकचरित के अनुसार वादी देवसूरि की दो ही दार्शनिक रचनाएँ प्रसिद्ध हैं— प्रमाणनयतत्त्वालोक एवं उस पर स्याद्वादरत्नाकर नामक विशालकायटीका।

प्रमाणनयतत्त्वालोक जैनन्याय की संस्कृत सूत्र शैली में निबद्ध ऐसी विशिष्ट कृति है, जिसमें प्रमाण, नय एवं वाद का व्यवस्थित निरूपण हुआ है। इसमें आठ परिच्छेद हैं, जिनके प्रथम छह परिच्छेदों में प्रमाण सम्बन्धी निरूपण है तथा सप्तम एवं अष्टम परिच्छेद में क्रमशः नय एवं वाद का विवेचन हुआ है। देवसूरि के पूर्व संस्कृत सूत्र शैली में दिगम्बर दार्शनिक माणिक्यनन्दिविरचित 'परीक्षामुख' ग्रन्थ प्राप्त होता है, जिसमें नय एवं वादविद्या का विवेचन नहीं है तथा प्रमाणनिरूपण में भी उसकी अपेक्षा प्रमाणनयतत्त्वालोक अधिक परिष्कृत रचना प्रतीत होती है। स्त्रीमुक्ति एवं केवलिभुक्ति के निषेधविषयक दिगम्बर मन्तव्य का भी इसमें खण्डन किया गया है। इस पर अनेक टीकाओं का निर्माण हुआ, जिनमें स्वयंवादी देवसूरि का स्याद्वादरत्नाकर प्रसिद्ध है।

स्याद्वादरत्नाकर को भारतीय दर्शन का प्रौढ़ ग्रन्थ कहा जा सकता

है, क्योंकि इसमें जैनन्याय के निरूपण के साथ भारतीय दर्शन की विभिन्न दार्शनिक मान्यताओं का पूर्वपक्ष के रूप में उपस्थापन कर उनका परीक्षण किया गया है। देवसूरि के इस ग्रन्थ पर सिद्धसेन, अकलंक, विद्यानन्द, प्रभाचन्द्र आदि आचार्यों के ग्रन्थों का प्रभाव है। प्रभाचन्द्र के प्रमेयकमलमार्तण्ड एवं न्यायकुमुदचन्द्र से इसकी तुलना की जा सकती है। स्याद्वादत्नाकर प्रौढ़ ललित संस्कृत में निबद्ध विश्रुत ग्रन्थराज है, किन्तु अभी तक इसका हिन्दी, अंग्रेजी आदि किसी भाषा में अनुवाद नहीं हुआ है, अतः भारतीय दर्शन परम्परा से जुड़े आधुनिक विद्वान भी इस विशाल ग्रन्थ का नहींवत् उपयोग कर रहे हैं। स्याद्वादरत्नाकर में विभिन्न दर्शनों की प्रमाण सम्बन्धी मान्यताओं का परीक्षण तो हुआ ही है, तत्त्वमीमांसीय मान्यताओं पर भी विचार हुआ है। जैनन्याय के विशिष्ट अध्येताओं के लिए यह ग्रन्थ अत्यन्त उपादेय है। इसमें भारतीय दर्शन के जो सिद्धान्त परीक्षित हुए हैं, उनमें प्रमुख हैं— (1) प्रमाणलक्षणविषयक बौद्ध न्याय एवं भाट्ट मीमांसकों के मत (2) न्याय वैशेषिकों द्वारा प्रतिपादित षड्विध सन्निकर्ष (3) शब्द ब्रह्मवाद (4) बौद्धसम्मत निर्विकल्पकप्रत्यक्ष (5) विवेकाख्याति, असत्ख्याति, प्रसिद्धार्थख्याति, आत्मख्याति, अनिर्वचनीयख्याति आदि (6) विज्ञानवाद (7) शून्यवाद (8) परमब्रह्मवादी वेदान्तमत (9) मीमांसकसम्मत ज्ञान की मात्र परप्रकाशकता (10) चार्वाकादि दर्शनों द्वारा मान्य प्रमाणों की संख्या (11) अर्थापत्तिप्रमाण तथा अभावप्रमाण की पृथक्ता (12) श्रोत्र की अप्राप्यकारिता (13) मीमांसककृत सर्वज्ञत्वनिषेध (14) विभिन्न दर्शनों में मान्य मोक्षस्वरूप आदि (15) स्मरण एवं प्रत्यभिज्ञान की अप्रमाणता विषयक बौद्धमत (16) बौद्धसम्मत हेतु त्रिरूपता एवं न्यायसम्मत हेतु पंचरूपता (17) बौद्धसम्मत तादात्म्य एवं तदुत्पत्ति से अविनाभाव (18) बौद्धों द्वारा भाब्द प्रमाण का अनुमान में अन्तर्भाव (19) वेद की अपौरुशेयता (20) स्फोटवाद (21) अन्विताभिधानवाद (22) अभिहितान्यवाद (23) शब्दनित्यत्ववाद (24) क्षणिकवाद (25) वैशेषिक सम्मत षट् पदार्थ (26) आत्मविशयक विभिन्न मत आदि।

वादी देवसूरि के शिष्य रत्नप्रभसूरि ऐसे आचार्य हुए जिन्होंने

भारतीय दर्शन को जैन दार्शनिकों का अवदान/ 25

बृहत्काय टीका स्याद्वादरत्नाकर के निर्माण में अपने गुरु का भी सहयोग किया तथा स्वतन्त्र रूप से 'रत्नाकरावतारिका' नाम लघुटीका की भी रचना की। रत्नप्रभ ने यद्यपि इसका लेखन स्याद्वादरत्नाकर में प्रवेश करने हेतु अवतारिका (घाट) के रूप में किया है, तथापि यह स्वयं परिनिष्ठित संस्कृत एवं सामासिक शैली के कारण दुरुह रचना बन गई है। इसको हृदयंगम करने के लिए राजशेखरसूरि ने पंजिका तथा मुनि ज्ञानचन्द्र ने टिप्पण का लेखन किया। रत्नाकरावतारिका की विषयवस्तु एवं स्याद्वादरत्नाकर की विषयवस्तु में अधिक भेद नहीं है, रत्नप्रभ ने विभिन्न दर्शनों का प्रतिपादन एवं उनका निरसन, संक्षेप में सबल तर्कों से किया है। रत्नाकरावतारिका में चक्षु एवं मन की अप्राप्यकारिकता तथा श्रोत्र की प्राप्यकारिता पर अनेक श्लोक रचे गए हैं।

वादी देवसूरि एवं रत्नप्रभसरि के स्याद्वादरत्नाकर एवं रत्नाकरावतारिका ग्रन्थ जैन न्याय का तो व्यवस्थित प्रतिपादन करते ही हैं। भारतीय दर्शन के प्रमाणमीमांसीय एवं तत्त्वमीमांसीय सिद्धान्तों को पूर्वपक्ष में विशदतापूर्वक प्रस्तुत करते हुए उनकी समालोचना भी करते हैं। इससे ये दोनों ग्रन्थ भारतीय दर्शन के प्रतिनिधि ग्रन्थों की श्रेणी में रखे जाने योग्य हैं।

— 3—के—24/25, कुडी भगतासनी हा. बोर्ड, जोधपुर



आचार्य विद्यानन्दि का भारतीय दर्शन को अवदान

डॉ. अशोककुमार जैन
विभागाध्यक्ष, जैन-बौद्ध दर्शन
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वारणसी

जैन न्याय जगत में आचार्य विद्यानन्दि का नाम विश्रुत है। इन्होंने प्रमाण और दर्शन सम्बन्धी ग्रन्थों की रचना कर श्रुत परम्परा को गतिशील बनाया है। वे महान् तार्किक आचार्य हैं। प्रत्येक दर्शन के मूल ग्रन्थों का अन्तःप्रविष्ट अध्ययन कर उनमें वर्णित सिद्धान्तों की उन्होंने समीक्षा की। विभिन्न मनीषियों ने ऊहापोह कर उनका समय 775-840 ईसवी प्रमाणित किया है। उनके पूर्वाचार्यों द्वारा प्रणीत ग्रन्थों पर तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, अष्टसहस्री, युक्त्यनुशासनालंकार टीका ग्रन्थ हैं तथा विद्या द्वारा प्रणीत, आप्तपरीक्षा, प्रमाणपरीक्षा, पत्रपरीक्षा, सत्यशासनपरीक्षा, श्रीपुरपार्श्वनाथस्तोत्र आदि प्रमुख ग्रन्थ हैं।

उनका दर्शनान्तरीय अभ्यास गहन था। न्याय, वैशेषिक, मीमांसा, चार्वाक, सांख्य और बौद्धदर्शनों के सिद्धान्तों को जब वे अपने ग्रन्थों में पूर्व पक्ष के रूप में जिस विद्वत्ता एवं प्रामाणिकता से रखते हैं तब उससे लगने लगता है कि अमुक दर्शनकार ही अपना पक्ष उपस्थित कर रहा है। मीमांसा दर्शन का जैसा और जितना सबल खण्डन तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक में पाया जाता है वैसा और उतना जैन वाङ्मय की किसी भी उपलब्ध कृति में नहीं है। जैनदर्शन के सिद्धान्तों को उन्होंने तार्किक शैली में प्रतिपादन किया। निश्चय-व्यवहार, निमित्त-उपादान, अनेकान्त, स्याद्वाद, सप्तभङ्गी, नयवाद एवं प्रमाण का सम्यक् प्रतिपादन कर उनकी अबाध्यता को निरूपित किया। भारतीय दार्शनिक चिन्तन परम्परा में उनकी प्रतिभा एवं विद्वत्ता अनुपम है। उनके अवदान के विभिन्न पक्षों को विस्तृत लेख में विवेचन किया जायेगा।



उपाध्याय विनयविजय का भारतीय दर्शन में अवदान

डॉ. श्वेता जैन

अतिथि अध्यापक—संस्कृत विभाग,

जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय, जोधपुर (राज.)

फोन : 0291-2541052, 94137-82968

उपाध्याय विनयविजय तपागच्छ के आगमवेत्ता एवं दार्शनिक सन्त थे। उनका जन्म विक्रम संवत् 1661 में गुजरात में हुआ। उन्होंने अपने जीवनकाल में संस्कृत, प्राकृत और गुजराती में 40 कृतियों की रचना की। जिन्हें नौ भागों में विभाजित किया जा सकता है—1. आगम व्याख्या एवं सज्जाय, 2. इतिहास विषयक, 3. आध्यात्मिक रचनाएँ, 4. स्तोत्र एवं स्तवन, 5. व्याकरण विषयक, 6. रास एवं फागु काव्य, 7. पूजा पद्धति विषयक, 8. दूत काव्य, गीति काव्य एवं विज्ञप्ति लेख, 9. दार्शनिक साहित्य।

दार्शनिक साहित्य के अन्तर्गत चार रचनाएँ प्राप्त होती हैं— 1. लोकप्रकाश, 2. नयकर्णिका, 3. पंचसमवाय स्तवन एवं 4. षट्त्रिंशज्जल्पसंग्रह संक्षेप। लोकप्रकाश 37 सर्गों में विभक्त और लगभग 18000 श्लोकों में निबद्ध एक अद्भुत ग्रन्थ है। इसमें द्रव्य, क्षेत्र और भाव लोक का वर्णन कर समग्र दृष्टि से तत्त्वबोध की नवीन दृष्टि को प्रस्तुत किया है। पुद्गल का ग्रहण लक्षण देकर उन्होंने उसके वास्तविक स्वरूप को उद्घाटित किया है। काल सम्बन्धी दोनों मान्यताओं की आगमिक युक्तियों को बताते हुए विनयविजय जी ने अपनी युक्तियाँ भी योजित की हैं। काल के पृथक् द्रव्यत्व की सिद्धि में वे तर्क देते हैं— सूर्य आदि की गति का आधार, समय—अवलिका आदि शब्दों के प्रयोग, बीज से पत्र, पुष्प एवं फल की समान काल में उत्पत्ति का न होना, वर्तमान, भूत, भविष्य की पृथक् अनुभूति का होना आदि। काल के स्वतन्त्र द्रव्य की अस्वीकृति में अनवरथा दोष एवं काल के अनस्तिकायत्व को हेतु बताया है। भावलोक में जीव के आन्तरिक एवं चैतसिक परिणामों का सूक्ष्मता से विवेचन किया

गया है जो बौद्ध दर्शन के चित्त-चैतयिक के प्रतिपादन से भी विशिष्ट प्रतीत होता है। ग्रन्थकार ने आठ कर्मों से सम्बद्ध दर्शन के चित्त-चैतसिकों के प्रतिपादन से भी विशिष्ट प्रतीत होता है। ग्रन्थकार ने आठ कर्मों से सम्बद्ध कर औदयिक आदि भावों का निरूपण किया है।

उपाध्यायजी ने 'नयकर्णिका' ग्रन्थ में सात नयों के 100-100 भेद मानकर 700 भेद बतलाए हैं। वस्तु के सामान्य एवं विशेष धर्मों के स्वरूप तथा नैगमादि नयों की उत्तरोत्तर विशुद्धता का भी प्रतिपादन किया है। 'पंचसमवाय स्तवन' में लेखक द्वारा काल, स्वभाव, नियति, कर्म और पुरुषार्थ रूप कारणपंचक जैसे तात्त्विक विषय को गेय और सर्वग्राह्य बना दिया गया है। 'षट्त्रिंशज्जल्पसंग्रह संक्षेप' में 36 जल्प का संक्षिप्त विवेचन है।

इस प्रकार उपाध्याय विनयविजय ने अपने तात्त्विक चिन्तन को लोकप्रकाश जैसे बृहत्काय ग्रन्थ में नये आयाम में प्रस्तुत किया है, जो सम्पूर्ण जैनदर्शन को समझने के लिए एक आधार ग्रन्थ के रूप में प्रवेश मार्ग है। भारतीय दर्शन में इस नवीन विधा के रूप में उपाध्याय विनयविजय का महनीय अवदान है।



Contribution of Acarya Amritchandrasuri to Jain Philosophy

- Dr. Kokila H. Shah

Hon. Prof. K.J. Somaiya Centre
for Studies in Jainism

Acharya Amritchandra probably belongs to the 10th century A.D. He was a great scholar of Digambar Sect, who lived on the highest spiritual level of Niscayanaya.

He has written commentaries on the works of Acarya Kundakunda of which Samaysar, Tika-known as atrakhyati is remarkable. Besides there commentaries, his two independent works are:

I. Purusharthasiddhyupaya-a work on the life of householder.

II. Laghutattvasphota- It embodies the exposition of Jain Doctrines. All his works are in Sanskrit and are full of spiritualism of high order.

Amritchandra has contributed to the spiritual tradition of Kundakunda by writing commnetries on Samaysara, Pravachansara and Panchastikaya; the theoretical tradition of Umaswami by writing Tattvarthsara and Samanatabhadras tradition of writing on Sravakacara by writing Purusharthasiddhyupaya. His uniqueness consists in treating Samaysar as a drama.

The present paper attempts to highlight the mystical elements depicted in his works. The focus is on the nature of non-violence which has been very realistically depicted in his original work. I have tried to bring about its spiritual implication for self-realization.

The importance of the concept of Jina needs to be understood. The uniqueness of Amritchandra is in emphasizing Suddha Upyqga, which is reflected in all his works and his fascination of Omniscient Being- Jina who expounds the true doctrine. His concepts of Supremacy of Darshana according to the pure standpoint, integration of knowledge and action etc are also remarkable. It can pave the way for further research on the philosophy of consciousness. Undoubtedly his contribution to Indian Philosophy in general and Jain Philosophy in particular is invaluable.

Contribution of Prabhachandra to Indian Logic

- Ms. Varsha Shah
(Research Assistant, K.J. Somaiya
Centre for Studies in Jainism)

The real object of the Logic (Nyaya) Philosophy is attainment of moksa. Pramana is the main theme of all Nyaya Philosophies. Different systems admit different number of Pramanas. The name Nyaya come to be applied later to a system of Philosophy which dealt with logic. The original name was 'anviksiki' from Anviksa (discussion). Fruitless Tarka was discouraged but that Anviksiki' which lead to attainment of knowledge of self was always regarded as the subject to be learnt.

Manikyanandi wrote the Pariksamukham culling the subject matter from the ocean of the sastras written by Akalanka. Pariksa or Tarka is the discussion used in finding out the strength or weakness of various arguments which are opposed to one another; 'Pari' means 'full' and Iksanam means 'discussion' of (subject), 'amukha' means the 'entrance' to those who want to understand this subject. This work (Pariksamukham) is like a door." Prabhachandra was the most celebrated commentator of Pariksamukham. He work is entitled Prameyakamalamartanda. This Prabhachandra has been mentioned by Jinasena in Adipurana (838 A.D) in the following verse:

I praise Prabhachandra, the poet whose fame is white as the rays of the moon and who has encompassed the whole world by making 'Chandrodaya' 'Kumudchandrodaya' (rising of the moon).

Though Prameyakamalamartanda is in modified form, it does not delineat from the older works.

Prameyakamalamartanda is voluminous work and full of discussions regarding views of logicians other than Jain logicians. Com-

mentary is in the form of arguments and counter arguments which are as follows:

1. Sankhya Yoga: Indriya Vitti Vada, Acetanajnanvada, Prakrti kartutvavada
2. Nyaya-Vasesika: Karakasakalyavada, Sanikarsavada, Jnanavada, gshvaravada, Pancarupyahetuvada, Satpadartha vada.
3. Vaiyakaran: Sabda dvaita vada, Sphotavada
4. Buddhist: NirvikalpaPratyaksavada, ehitradvaitvada, Sunyavada, sakar a jnanvada, trirupyahetuvada, Apohavada, Ksanabhangavada.
5. Mimamsaka : Abhavapramanavada, Paroksajnanavada, Vedaapouresyavada, Sabda nityavada.
6. Svetambar: Kevalikavalahara, Strimuktivada
7. Vedante : Brahmavada.



